साहित्य में प्रकृति और जीवन की एकसूत्रता (अज्ञेय के निबन्ध–साहित्य के संदर्भ में)

*डॉ. सत्य नारायण शर्मा

Abstract

प्रकृति और मानव का सम्बन्ध उतना ही प्राचीन है, जितना कि सृष्टि के उद्भव और विकास का इतिहास। प्रकृति के विविध उपादानों से प्रेरणा–प्रभाव ग्रहण कर मानव जीवन सतरंगी बना हैं। प्रकृति में ही मानव के उद्भव विकास और विलय की शक्ति निहित है अर्थात् प्रकृति रूपी मॉक की गोद में शिशु का जन्म हुआ, उसकी रज में वह खेलकूद कर बडा हुआ, और अंत में उसी की गोदी में चिरनिद्रा में सो गया। प्रकृति उद्भव कियाकलापों से ही मानव में भय, विस्मय, प्रेम, त्याग, समर्पण आदि भावनाओं का स्फुरण हुआ। प्रकृति की नियामकता को देखकर मानव में ज्ञान–विज्ञान की बुद्धि का विकास हुआ। दार्शनिक दृष्टि से भी प्रकृति और मानव का रिस्ता अटूट है, स्थायी है, चिरन्तन है। उनके अनुसार सत रूपी प्रकृति, चित्त रूपी जीव और आनन्द रूपी परतमत्व तीनों मिलकर सच्चिदानन्द परमेश्वर की सत्ता का रूप धारण करते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों ही दृष्टियों से प्रकृति मानव का पोषण करती हुई उसके जीवन–पथ को प्रशस्त करती है।

मानव और प्रकृति के इस अटूट सम्बन्ध की अभिव्यक्ति धर्म, दर्शन, साहित्य और कला में चिरकाल से होती रही है। मनुष्य सदैव प्रकृति सौन्दर्य से अभिभूत होता रहा है। साथ ही, वह प्रकृति का साधक और पूजक भी रहा है। अपनी वैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य ने प्रकृति के रोद्र एंव भीषण रूपों का अन्वेषण भी किया है। वह प्रकृति के साथ एकसूत्रता स्थापित करने के हरसंभव प्रयास करता रहा है। इन प्रयासों में सर्वप्रमुख है –साहित्य। साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब है, अतः उस प्रतिबिम्ब से उसकी सहचरी प्रकृति का प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक है। मनुष्य का प्रथम साहित्य सृजन काव्य है। वेद साहित्य, वेदोत्तर साहित्य, हिन्दी भक्तिकालीन, रीतिकालीन और आधुनिक साहित्य में प्रकृति वर्णन प्रचार मात्रा में मिलता है।

प्रकृति मानव हृदय और काव्य के बीच संयोजक का कार्य भी करती रही है। प्रकृति ही कवियों की काव्य रचना का प्रेरणा स्त्रोत रही है। उदाहरण के रूप में.–आदिकवि वाल्मीकि प्रकृति के दो सजीव प्राणियों–कौंच और कौंच पक्षिणी के प्रेमालाप और तत्पश्चात् कौंच पक्षी के वध को देखकर इतने भाव विह्वल हुए कि उनके मुख से वेदना के रूप में कविता प्रस्फुटित हो उठी। आषाढ़ के प्रथम बादलों को देखकर कालिदास इतने भावभिभूत हो गये कि उनकी अनुभूतियॉ 'मेघदूत' का रूप धारण करके बरस पड़ी। मध्य कालीन कवियों–कबीर, सूरदास, मीरा, रसखान, घनानन्द, बिहारी ने अपनी विरह गाथा को प्रकृति के माध्यम से अभिव्यक्त किया। आधुनिक कालीन छायावादी काव्य तो आद्यन्त प्रकृति का काव्य रहा है। जयशंकर प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा आदि के काव्य में प्रकृति हमारे कवियों के लिए केवल प्रेरणा का स्त्रोत ही नहीं है बल्कि अनुभूति का अगाध सागर और विचारों की अटूट श्रृंखला भी रही है। परिवर्तित परिवेश के साथ प्रकृति वर्णन की पद्धति में परिवर्तन भी होता आया है। आज प्रकृति निरूपण केवल काव्य के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रह गया है वरन साहित्य की अन्य विधाऍ भी इस क्षेत्र में अग्रसर हुई है।

'निबन्ध' गद्य–साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है, जिसमें व्यक्ति व्यंजना का, विचारों की स्वच्छन्दता का प्रतिपादन होता है। भावों और विचारों की इसी स्वच्छन्दता के बल पर निबन्धकारों ने प्रकृति चित्रण की जीवंत अभिव्यक्ति की है। भारतेन्दु युग से लेकर शुक्लोत्तर युगीन निबन्धों तक प्रकृति निरूपण की एक अटूट परम्परा रही है। इस परम्परा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, निराला, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेर नाथ राय का उल्लेखनीय योगदान रहा है। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' का नाम भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

शुक्लोत्तर हिन्दी निबन्ध परम्परा को नयें चिन्तन से नया रूप देने वाले निबन्धकारों में अज्ञेय एक अविस्मरणीय नाम है। अज्ञेय वैज्ञानिक चेतना से सम्पन्न रचनाकार है। इनके निबन्धों में प्रायः सभी विषयों–साहित्य, संस्कृति, समाज, कला, शिक्षा, भाषा, परम्परा, आधुनिकता का सारगर्भित विवेचन मिलता है। किन्तु इनके केन्द्र में मूल प्रश्न मानवीय व्यक्तित्व का रहा है। यही कारण है कि प्रकृति और जीवन के अन्तः सम्बन्धों का सूक्ष्म विवेचन और विषमतापूर्ण सम्बन्धों बदलने की आकांक्षा अज्ञेय के निबन्धों में यत्र–तत्र दृटिगोचर होती है।

अज्ञेय में आरम्भ से ही प्रकृति के प्रति गहरा लगाव रहा है। उनका जन्म खंडहरों में शिविर में हुआ था। उनका बचपन भी वनों और पर्वतों में बिखरे हुए महत्वपूर्ण पुरातत्वावशेषों के मध्य में बीता। पुरातत्वान्वेषी पिता के साथ रहने के कारण अज्ञेय बचपन से ही एकांतजीवी थे। एकांतजीवी होने के कारण देश और कल के आयाम का उनका बोध कुछ अलग ढंग का था। **"अज्ञेय' अपनी निगाह में' लिखते हैं कि–"वह घण्टों निश्चल बैठा रहता था। इतना निश्चल कि चिड़िया उसके कंधों पर बैठ जाएं या कि गिलहरियॉ उसकी टांगों पर से फांदती हुई चली जाएं। पशु–पक्षी और बच्चे उससे बड़ी जल्दी हिल जाते है। पशु उसने गिलहरी के बच्चे से तेंदुए के बच्चे तक पाले है, पक्षी बुलबुल से मोर चकार तक; बन्दी इनमें से दो चार दिन से अधिक किसी को नहीं रखा।"[1] (आत्मपरक 1983)** हम देख सकते है कि अज्ञेय के चेतन में प्रकृति के कितने कार्य व्यापार एक साथ प्रतिफलित होते है। प्रकृति, पशु और मनुष्य का सहज साहचर्य और संगति भी यहॉ स्पष्ट दिखाई देती है। अज्ञेय कृत्रिमता से मुक्त सहज जीवन के आकांक्षी है। इनके रचना संसार में पशु–पक्षी, मनुष्य और तमाम चीजें शामिल है। इसके माध्यम से वे हमें मुक्ति और सीमाहीन खुलेपन के बोध की तरफ ले जाते है। वे नगर के कोलाहत से भागकर प्रकृति में शरण चाहते है।

प्रकृति का साहचर्य मानव को जीवन का रूप–रस प्रदान करता है। भारतीय चिन्तन की इस धारणा का अज्ञेय अपने निबन्धों में विस्तार करते है। अज्ञेय के प्रकृति विषयक चिन्तन पर जयशंकर प्रसाद की छाप है। प्रसाद जी की तरह वे पूरी प्रकृति से तदाकार है, जिसमें पशु–पक्षी, वन–उपचन, झरने, पेड–पौधे आदि सभी कुछ है। अन्तर केवल इतना है कि प्रसाद का सौंदर्य जहॉ प्राचीन काव्य परम्पराओं का अनुगमन करता है, वहीं अज्ञेय प्रचलित सौंदर्यबोध को तोड़कर प्रकृति को तर्कयुक्त और विज्ञानसम्मत सर्जनात्मकता प्रदान करते है। अज्ञेय की कृति 'संवत्सर' में यही चिन्तन व्यक्त हुआ है, जहॉ वे प्रकृति निरूपण के केन्द्र में मानवीय व्यक्तित्व मौजूद रहा है। **डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में, "अज्ञेय के लिए संघटित मानव व्यक्तित्व आस्था, सर्जनात्मकता और आस्तिकता का स्त्रोत है, नश्वरता पर विजय है।"[2]** अर्थात प्रकृति और मानव के बीच जो अन्तः सम्बन्ध है, वही नश्वरता और सर्जनात्मकता के बीच है। मानव जीवन नश्वर होते हुए भी प्रकृति की सर्जनात्मकता में सहभागी बनकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है। **'संवत्सर' कृति में अज्ञेय इसी विषय में लिखते हैं कि, "नश्वरता का मेरे लिए कभी कुछ विशेष अर्थ नहीं हुआ, लेकिन हर चीज मिटती हुई किसी प्राणवान् चीज की प्राणवत्ता में अपना योग दे जाती है, यह मैंने बार–बार देखा है और हर बार पाया है कि इससे एक अन्तः स्फूर्ति मिलती है जो स्वयं प्राणदायिनी है। हो सकता है ऐसा इसलिए है कि मैं जंगलों में अधिक रहा हूँ, प्रकृति के निकट अधिक रहा हूँ।"[3] (संवत्सर 1978)** स्पष्ट है कि अज्ञेय के प्रकृति में उसका गतिशील रूप ही समाविष्ट हैं।

अज्ञेय प्रकृति का सिर्फ वर्णन ही नहीं करते बल्कि उसके साथ प्रयोग करके उसे नयी अर्थवत्ता भी प्रदान करते हैं, नए सत्यों को उससे प्राप्त करते हैं। प्रकृति के सम्पर्क में आने से ही अज्ञेय की संवेदना का विस्तार और प्रसार होता है। 'संवत्सर' अज्ञेय की एक महत्वपूर्ण कृति है, जिसके माध्यम से अज्ञेय ने हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम काल चिन्तन करने का प्रयास किया है। इसमें काल के निरन्तरता बोध को प्राकृतिक रूपाकारों के द्वारा व्यक्त किया गया है। अज्ञेय पर जापानी जेन साधना पद्धति का स्पष्ट प्रभाव रहा है। इसी कारण वे प्रकृति के निकट रहने का आग्रह करते थे, तो केवल नश्वरता की याद बनाये रखने के लिए नही बल्कि सतत आवर्तन की याद बनाये रखने के लिए। जो कुछ है सब मिटता जायेगा, लेकिन मिट जोन के लिए नहीं, इसलिए कि दूसरा कुछ बनता जायेगा। **इसी संदर्भ में अज्ञेय लिखते हैं कि, "पराने आरण्यक–आज्ञमिक भी प्रकृति के निकट रहते थे। वे भी देखते थे कि जो बनता है वह मिटता भी है। लेकिन इसा देखने में उन्होंने जीवन की नश्वरता नहीं देखी। उन्होंने जीचन को नश्चर नहीं माना, सनातन आवर्तन प्रक्रिया में योग देने से अपना हाथ नहीं खींचा। ओस की बूंद में धूप की चमक देखकर उन्हें मृत्यु का स्मरण नहीं आया बल्कि उन्होंने उस सवितृ का स्तवन किया जो सारी प्रक्रिया की गति बढ़ाता है– साथ–साथ हमारी प्रत्यभिज्ञा सम्पन्न बुद्धि की भी– धियो यो नः प्रचादयात्। तभी तो वह कर सके : देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।"[4] (संवत्सर 1978)** अज्ञेय पर रवि ठाकुर प्रभाव स्थायी एवं गहरा सिद्ध हुआ। रवि ठाकुर की तरह वे तथ्य एवं सत्य में मैलिक अन्तर करते है। **"छायावाद और रवि ठाकुर के प्रभाव के कारण प्रकृति सोंदर्य के प्रति प्रारम्भ से ही एक रूझान अनुभव करते थे। लेकिन उनका यह प्रकृति प्रेम किसी सूक्ष्य तत्व के प्रति लगाव के कारण नहीं वरन् प्रकृति के पार्थिव सोंदर्य से मिलने वाले आनन्द के कारण था।"[5]** कहने का तात्पर्य यह है कि अज्ञेय के निबन्धों में प्रकृति का एक छत्र वर्णन नहीं हैं यहॉ अज्ञेय की वैज्ञानिक चेतना प्रकृति से टकराती है और चिन्तन के स्तर पर विभिन्न प्रयोग करती है।

वर्तमान नयी व्यवस्था में प्रकृति, प्रविधि और मानव के बीच समानुपात सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश अज्ञेय के निबन्धों में दिखाई देती है। उनके निबन्धों में हमें अपने परिवेश के साथ जुड़ाव और उसमें सामाजिक स्थितियों और सम्बन्धों का खुलासा देखने को मिलता है। **अज्ञेय के शब्दों में, "मेरा परिवेश बहुत बड़ा है। यह बात आपेक्षिक रूप से भी सच है और आत्यन्तिक रूप से भी मेरा परिवेश प्रचीन लेखक के परिवश की तुलना में भी बहुत बड़ा और अपने आप में भी बहुत बड़ा है। उसमें एटम बम है और भूदान है, ई.ई.सी. है और नाटों है, पी. एल. 480 है और वियतनाम है, हिन्दी–चीनी भाई–भाई है। यूरी गागरिन है, अफ्रो एशियाई एकता हैं और कांगो और अंगोला है। भारत एक स्वाधीन राष्ट्र है और पीलू मोदी है, हाईथालामस ग्रन्थि है और शतदल पद्म है–सभी कुछ है। जो बहुत से लोगों के लिए था, हो गया है, वह भी है, जो बहुत से लोगों के लिए होगा की कोटिका है वह भी है, और जो भी है वह तो है ही और निरन्तर फैलता जा रहा है।"[6](आलवाल 1971)** इस व्यापक परिवेश की सम्पूर्णता को अभिव्यक्त करना अज्ञेय की वैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है। वे प्रकृति सम्बन्धी प्राचीन काव्य परम्परा को तोड़कर उसे यथार्थ के प्रति नए उन्मेष के उपादान के रूप में देखते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि वैंज्ञानिक आविष्कारों ने हमारे परिवेश को बदला है जिससे हमारी मान्यताओं में और उसके आधारों में मूलभूत परिवर्तन आए है। व्यक्ति लगातार प्रकृति के सम्पर्क से कटता जा रहा है और यांत्रिकता के सम्पर्क में अधिक से अधिक आता जा रहा है। **इस बदलते हुए परिवश में अज्ञेय अपनी प्रकृति विषयक चिन्ता को मुखरित करते है, "यान्त्रिक उन्नति अपने आप में दुषित नहीं है। वह मृत्यु को सुगमतर बनाती है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह जीवन को असंभव बनाती है। किन्तु यान्त्रिक उन्नति आत्मा को प्रेरणा नहीं देती, और वह प्रेरणा आवश्यक है। उस प्रेरणा के स्त्रोत की खोज आधुनिक मानव की खोज है।"[7]** (आत्मनेपद 1960) हम देख सकते है कि अज्ञेय ने परिवेश से काटकर प्रकृति को कभी नहीं देखा। निर्जन प्रकृति में विचरण करते हुए भी वे परिवेशजन्य समस्याओं से टकरा रहे होते हैं, आज की समस्याओं के हल ढूँढ़ रहे होते हैं। अज्ञेय के अनुसार आज परिवेश

जितना व्यापक हुआ है, प्रकृति के साथ उसका रिश्ता भी उसी अनुपात में बदला है। **वर्तमान परिवेश में मानव जीवन की इसी छटपटाहट को महसूस करते हुए अज्ञेय लिखते हैं कि "मानवीय इतिहास के दूरव्यापी और आश्चर्यजनक परिवर्तनो से हमारे सामने जो नया मानचित्र प्रस्तुत हुआ, परलोक में नही बल्कि इस लोक मे मानवीय अस्तित्व के जो नए क्षितिज खुले, उनसे शाश्वत का आयाम ऑखों–ओट हो गया और धीरे–धीरे उसका समूचा ढ़ॉचा भरभरा कर टूटा गया। अमरत्व और सनातन जीचन का क्षितिज मिट गया। उत्पादन की नई प्रक्रिया ने समय का अर्थ और मूल्य बदल दिया"[7] (संवत्सर 1978)** असल में अज्ञेय अपनें निबन्धों में जब यंत्र युग के खतरे को व्यक्त करते हैं तब वह केवल मशीन का खतरा नहीं है बल्कि वह आधुनिक युग में होने वाली जीवन की दुर्गति का खतरा है।

अज्ञेय प्रकृति को द्वन्दात्मक परिप्रेक्ष्य में देखकर उसे एक नवीन आयाम प्रदान करते हैं। हम यह नहीं कहते कि अज्ञेय प्रकृति को अकेले होकर जीते हैं बल्कि वे अपने जीवन की परिवेशजन्य तनावों को, संघर्षों को साथ रखकर प्रकृति का अवलोकन करते हैं। इसिलिए उन्हें प्रकृति में चल रही द्वन्दात्मक प्रक्रिया दिखाइ देती है। प्रकृति में व्याप्त नश्वरता और सर्जनात्मकता के अन्तः सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए अज्ञेय लिखते हैं कि,**"जो देह शव होकर अपवित्र हो जाती है वह भी प्रक्रिया में पड़कर जो जीवित है उसके प्राणवत्ता में योग देती है–धुऑ बनकर, चॉदनी बनकर, मेघ बनकर, वर्षा बनकर, पृथ्वी की उर्वरा शक्ति बनकर। प्रक्रिया सनातन है : प्रक्रिया भी है और सनातन भी है इसलिए मूलतः स्थिर भी है और गतिमान भी है।"[9](संवत्सर 1978)** अज्ञेय विराट प्रकृति से प्रेरणा लेकर जीवन और परिवेश को समझते है। उन्हें लगता है कि जीवन और मानवोत्तर प्रकृति दोनों में द्वन्दात्मक का रिश्ता है। दोनों में संघर्ष है, परिवर्तन है और फिर नवजीवन है।

अज्ञेय प्रकृति से स्वाधीनता का एक नया अर्थ–संदर्भ प्राप्त करते हैं। 'मेंरी स्वाधीनताः सबकी स्वाधीनता' में अज्ञेय का यही स्वाधीनता विमर्श व्यक्त हुआ है। खुली हरियाली में खड़े अकेले पेड़ को देखकर अज्ञेय को जो अनिर्वचनीय अनुभूति होती है। उसे व्यक्त करते हुए वह कहते हैं कि, **"भारत में हम लोग हर बढ़ती, विकसित चीज के प्रति सम्मान का दर्शन बघारते हैं, पेड़–पौधों की हम पूजा करते हैं। लेकिन भारत में कदाचित ही कभी ऐसा पेड़ देखने को मिलता है जिसे स्वाधीन बढ़ने दिया गया हो। उस समय मेरे मन में एक शब्दहीन विचार गूॅजतर रहा–स्वाधीन विकास, स्वाधीनता की परिभाषा मिली, जो तब से सर्वदा मेरे साथ रही हैं........स्वधीन होना अपनी चरम सम्भवनाओं की सम्पूर्ण उपलब्धि के शिखर तक विकसित होना है।"[10](स्त्रोत और सेतु 1978)** यहॉ हमें अज्ञेय की प्रकृति के प्रति एक अन्वेषणात्मक मानसिकता दिखाई देती है। यहॉ विराट प्रकृति के पीछे छिपे कार्यकारण सम्बन्ष को जानने की जिज्ञासा है, प्राकृतिक परिवेश में व्यक्ति सम्बन्धों जानने की इच्छा है।

अन्तः में हम कह सकते है कि प्रकृति और मनुष्य के बीच के रागात्मक सम्बन्ध सुरक्षित रहने चाहिये। हमें मनुष्य जीवन में प्रकृति की व्याप्ति, मर्यादा मथा उसका महत्व निरूपित करना चाहिए। प्रकृति और पर्यावरण के बीच में अन्तर को समझकर, उसका विश्लेषण कर साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति करनी चाहिए। आज मानव की स्वार्थ बुद्धि, बढ़ती जनसंख्या, प्रदूषण आदि के कारण मूल्यों का पतन हो रहा है। इन सभी से केवल वैंज्ञानिक, समाज चिन्तक ही चिन्तित नहीं हैं बल्कि साहित्यकार भी चिन्तित है। इन सभी के अनुसंधान से यह मूल विचार सामने आया हैं कि प्रकृति का मूल रूप ही मानव के लिए हितकर है। न केवल प्रकृति के हर रूप का चित्रण, मानव–जीवन में उसकी आवश्यकता महत्वपूर्ण है अपितु उसके साथ तादात्म्य होना भी आवश्यक है।

अज्ञेय के निबन्धों में आद्यन्त प्रकृति और जीवन का यहीं तादात्म्य दिखाई देता है। यहॉ प्रकृति तथ्य और सत्य के समन्वित रूप को पेश करती है। यही कारण है कि नन्ददुलारे वायपेयी जैसे आलोचक भी इस तथ्य को स्वीकारते हैं कि, **"अज्ञेय जी की नयी काव्य सृष्टि में दो–तीन बातें हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती है। एक है, इस**

काव्य सृष्टि में प्रकृति की गतियों, रूपों एवं मुद्राओं का साफ अंकन। यद्यापि ये रूप, गतियॉ और मुद्राएँ लेखक की आन्तरिक भावना से संपृक्त है पर उनमें यथार्थ का पक्ष भी पूरी तरह से भास्वर होता है।"[11] असल में अज्ञेय में प्रकृति के तटस्थ, निर्लिप्त, दृश्य चित्र खीचनें की प्रवृत्ति कम है। उनके निबन्धों का अध्ययन करने पर महसूस होता है कि जीवन के उत्कट आत्मलीन एवं मूल्यवान क्षण वह प्रकृति के परिपार्श्व में अनुभव करते है और जीवन की नई परिभाषाएँ भी वह प्रकृति के सम्पर्क में आकर महसूस करते है। इनके आत्मपरक निबन्धों में प्रकृति उन्मुख जीवन की यही परिभाषाएँ मिलती है। अपने निबन्धों में प्रकृति में आत्मलीन अज्ञेय कहीं चिन्तनशील होते है तो कहीं प्रकृति से उन प्रतीकों को ग्रहण करते है जो उन्हें जीवन–दर्शन का बोध होता है, कभी दृश्यों का चैतन्यीकरण करते हैं। **डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में–"अज्ञेय में प्रकृति का गहरा भावन है, पर आग्रह नहीं हैं। प्रकृति काव्य में विशेष रूचि होने के कारण उन्होने हिन्दी प्रकृति काव्य का एक अच्छा संकलन 'रूपाम्बरा'(1960) प्रकाशित किया हैं। भूमिका में अज्ञेय के प्रकृति सम्बन्धी दृष्टिकाण का विश्लेषण है। यहॉ निश्चय ही प्रकृति को लेकर एक आधुनिक दृष्टि का प्रतिपादन हुआ है।"[12]** अज्ञेय प्रकृति के संसर्ग में ही अपने 'स्व' को पहचानते है, क्योंकि वह स्व उसी प्रकृति का अशं है, जिसके संसर्ग में आकर वह अपनी पहचान पाते हैं। अज्ञेय के निबन्धों में प्रकृति उच्चतर नैतिक बोध के ज्वलन्त दृष्टान्त की तरह प्रस्तुत होती है।

***व्याख्याता**
विभाग हिन्दी
स्व. राजेश पायलट राजकीय महाविद्यालय
बाँदीकुई (दौसा)

संदर्भ–संकेत

1. आत्मपरक (1983) – सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', पृ : 243, पहला संस्करण : 2011, नेशनल पेपरबैक्स, नई दिल्ली।
2. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या – रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ : 21, छठा संस्करण : 2011, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
3. सवंत्सर (1978) – सच्चिदानन्द वात्स्यायन, पृ : 25, तीसरा संस्करण : 2005, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
4. सवंत्सर (1978) – सच्चिदानन्द वात्स्यायन, पृ : 26, तीसरा संस्करण : 2005, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
5. अज्ञेय की काव्यतितीर्षा – नन्दकिशोर आचार्य, पृ : 35, परिवर्धित संस्करण : 2001, वागदेवी प्रकाशन, बीकानेर।
6. सर्जना और संदर्भ (1985) – सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', पृ : 169, पहला संस्करण : 2011, नेशनल पब्लिशिंग, नई दिल्ली।
7. आत्मनेपद (1960) – 'अज्ञेय', पृ : 110, तीसरा संस्करण : 2010, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
8. सवंत्सर (1978) – सच्चिदानन्द वात्स्यायन, पृ : 59, तीसरा संस्करण : 2005, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

9. सवंत्सर (1978) – सच्चिदानन्द वात्स्यायन, पृ : 25, तीसरा संस्करण : 2005, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

10. केन्द्र और परिधि (1984) – अज्ञेय, पृ : 99, द्वितीय संस्करण : 2005, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

11. अज्ञेय की कविता : परम्परा और प्रयोग – रमेश ऋषिकल्प, पृ : 194, प्रथम संस्करण : 2008, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

12. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या – रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ : 21, छठा संस्करण : 2011, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।